निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थाख्यान

सम्पूर्ण जैनागमको चार भागोंमें विभक्त किया गया है—१. प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग), २. चरणानुयोग, ३. करणानुयोग ४. और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर महापुरुषोंके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओंका निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोंका निर्धारण किया गया है। इनमेंसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें आवश्यकतानुसार विविध अर्थोंमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका बहुलताके साथ प्रयोग हुआ है, इसलिये इन दोनों शब्दोंका कहाँ क्या अर्थ ग्राह्य है, इस विषयपर यहाँ विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दोंका व्युत्पत्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनों शब्दोंमेंसे निश्चय शब्द तो 'निस्' उपसर्गपूर्वक चयनार्थक 'चिञ्' धातुसे 'अप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृञ्' धातुसे 'ण' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियोंके अनुसार वस्तुमें संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित व पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मयुगलोंमें एक-एक धर्म तो निश्चय शब्दका तथा एक-एक व्यवहार शब्दका अर्थ समझना चाहिये। उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार वस्तुमें संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित और पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मोंके वे युगल निम्न प्रकार संग्रहीत किये जा सकते हैं—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता, एकरूपता-नानारूपता, तद्रूपता-अतद्रूपता, भावरूपता-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता, संग्रहरूपता-विस्ताररूपता, सामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, साक्षाद्रूपता-परम्परारूपता आदि। इसमें पूर्व-पूर्व धर्म तो अभेदाश्रित या स्वाश्रित होनेके कारण वस्तुका निश्चयधर्म और उत्तर-उत्तर धर्म भेदाश्रित या पराश्रित होनेके कारण वस्तुका व्यवहारधर्म समझना चाहिये।

यहाँपर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे हैं कि चरणानुयोगमें प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्या-क्या अर्थ आगममें ग्रहण किया गया है?

चरणानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थ

जैन संस्कृतिके अध्यात्मका प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा पाकर आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त कर लेना ही बतलाया गया है। जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा पा लेनेका नाम मोक्ष है[1] और इस मोक्षको प्राप्त करनेका जो उपाय है वह मोक्षमार्ग है। जैनागममें मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें प्रतिपादित किया गया है।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।—तत्त्वार्थसूत्र १०-२।

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १।१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सम्यक्चारित्रको आगममें निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो-दो रूप बतलाया गया है।[1] इस तरह मोक्षमार्ग वहाँपर दो भेदरूप बतला दिया गया है—एक निश्चयमोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्ष-मार्ग।[2] साथ ही इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चयमोक्ष-मार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण है और व्यवहारमोक्ष-मार्ग परम्परया, अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है।[3]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजीने छहढालामें तीसरी ढालके प्रारम्भमें इस विषयको बहुत ही सुन्दरताके साथ सारगर्भित दो पद्यों द्वारा स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किया है। वे पद्य ये हैं—

"आतम कौ हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न, तातें शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारौ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो॥१॥
पर द्रव्यन तें भिन्न, आप में रुचि, सम्यक्त्व भला है।
आप रूप कौ जानपनौ, सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोखमग सुनिये, हेतु नियत को होई॥२॥

प्रथम पद्यमें पण्डितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है, वह सुख आकुलताके अभावमें उत्पन्न होता है और आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। ये तीनों निश्चयरूप भी होते हैं और व्यवहाररूप भी होते हैं अतः मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। इनमेंसे सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग इस निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है अर्थात् वह परम्परया मोक्षका कारण है।

द्वितीय पद्यमें पण्डितजीने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्योंकी ओरसे मुड़कर अपने आत्म-स्वरूपकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चयसम्यग्दर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाना निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होनेवाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो लीन हो जाना निश्चयसम्यक्चारित्र है।

---

१. पंचास्तिकाय—गाथा १०६।

२. पंचास्तिकायमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग, गाथा १६०। पंचास्तिकायमें निश्चयमोक्ष-मार्ग, गाथा १६१। निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्य संभवति।—पंचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामें आचार्य जयसेन।

३. निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्।—पंचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। पंचास्तिकाय, गाथा १६२ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। पंचास्तिकाय गाथा १६३ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।—परमात्मप्रकाश, टीका, पृष्ठ १४२ एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधनभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यम्।—परमात्मप्रकाश, श्लोक ७ की टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पण्डितजीने कहा है कि आगे छहढालामें निश्चय-सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चयमोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार मोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढालामें किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका पृथक्-पृथक् जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका कथन यहाँपर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

छहढालामें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं और कहा गया है कि इनके प्रति जीवोंके अन्तःकरणमें श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिको वास्तविकताके सम्बन्धमें ज्ञानकी दृढ़ता यानी आस्तिक्यभाव जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोंको निश्चय-सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमें और स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थ-सूत्रके अनुसार उपर्युक्त सात तत्वोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डक-श्रावकाचारके अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमें प्रवृत्त गुरुओंके प्रति जीवोंके अन्तःकरणमें श्रद्धान (भक्ति या आस्था) का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें निबद्ध सम्यग्दर्शनके उक्त लक्षणोंमें परस्पर भेद दिखाई देता है। परन्तु तत्त्वतः उनमें भेद नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवोंके अन्तःकरणमें उक्त सात तत्त्वोंके प्रति आस्तिक्य भावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सात तत्त्वोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जीवों-को समस्त वस्तुओंके और विशेषकर आत्माके स्वतःसिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। इसके आधारपर ही आत्माका अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्माके इस स्वरूपको समझनेके लिये उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही जीवोंको इस प्रकारके सम्यक् (वीतरागता-के पोषक) आगमज्ञानकी संप्राप्ति आवश्यक है। इसलिये यद्यपि मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनके पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान मिलना चाहिये, परन्तु वहाँ इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर ही उक्त प्रकारके ज्ञानका सम्यक्पना

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र १-२, १-४।
२. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञानकी उपयोगिता मध्यदीपकन्यायसे सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ़ होनेके लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन होने रूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमें औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है।[1] इनकी प्राप्ति जीवोंको उपशमश्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर औपशमिक चारित्रके रूपमें अथवा क्षपकश्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने पर क्षायिक चारित्रके रूपमें होती है। परन्तु ११वें गुणस्थानके औपशमिक चारित्र और १२वें गुणस्थानके क्षायिक चारित्रमें इतना अन्तर है कि उपशमश्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही पतनकी ओर मुड़ जाता है। अतः जहाँ उसका औपशमिक चारित्र तत्काल (अन्तर्मुहूर्तमें) समाप्त हो जाता है वहाँ क्षपकश्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने वाले जीवका क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतनकी ओर न मुड़ कर अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही १२वें गुणस्थानसे १३वें गुणस्थान में पहुँच कर सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके लिये चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाँचवें गुणस्थानमें अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ़ कर छठे गुणस्थान में महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थानमें शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त हो कर आत्मपरिणामोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धिके आधारपर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी माड़ता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठें गुणस्थानोंमें तो बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर १०वें तकके गुणस्थानोंमें अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारचारित्रकी पालनामें ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्रका भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमें क्षायोपशमिक चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एवं तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओंको संलग्नताके साथ करनेसे वे यथासंभव स्वर्गमें जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुँच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि इन क्रियाओंकी निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता सम्यग्दर्शनके आधार पर ही हुआ करती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसको अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका क्षयोपशम होना असंभव है जबकि अणुव्रत और महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोंका आगममें बतलायी गयी प्रक्रियाके अनुसार क्षयोप-शम होनेपर ही उत्पन्न होता है।[2]

इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोगमें जो सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०, ३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन मिलता है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण बतलाना है तथा व्यवहारमोक्षमार्गको मोक्षका परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण बतलाना है। विचार कर देखा जाय तो यह आशय 'मोक्षमार्ग' शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंसे ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्गस्वरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको उस निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप सम्यग्दर्शनादिका कारणरूप बतलाना भी उसीका आशय है। यहाँपर भी यदि विचार करके देखा जाय तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दोंके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंसे ही ध्वनित होता है। इस तरह ज्ञात होता है कि चरणानुयोगके प्रकृत प्रकरणमें मोक्षमार्ग शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्रमसे कारण की साक्षाद्रूपता और परंपरारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दोंके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्रमसे निश्चयरूप और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शनादिककी कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि मोक्षप्राप्तिके लिये जीवको मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा परंपरया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थितिमें जो व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके बिना केवल व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकसे ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं, वे गलती पर हैं। कारण कि उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्यमें सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि "जब निश्चयमोक्षमार्गके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं ह सकती हैं तो निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिका ही जीवको प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्गके ऊपर ध्यान देनेको कुछ भी आवश्यकता नहीं है", तो ये व्यक्ति भी गलतीपर हैं, क्योंकि ऊपरके विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवको व्यवहारमोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति होना असंभव है। यह बात पूर्वमें ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अंगभूत निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवकी औपशमिकरूपमें तो उपशमश्रेणी माड़ कर ११वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर ही होती है और क्षायिकरूपमें क्षपकश्रेणी माड़ कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी माड़कर ११वें अथवा १२वें गुणस्थानमें नहीं पहुँच जाता है तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र, जिसे सरागचारित्र या करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है, ही रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि "व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण किये बिना ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको संभव है", कारण कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य गुणस्थानक्रमसे बढ़ता हुआ ही ११वें या १२वें गुणस्थानमें पहुंच कर निश्चयसम्यक्चारित्रको उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १०वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या यों कहिये कि क्षायोपशमिकचारित्र के रूपमें रहा करता है।

उपर्युक्त कथनसे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवको होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बातको स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिकचारित्ररूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्रका सद्भाव रहते हुए भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवमें औपशमिक या क्षायिकरूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है ? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बातको स्वीकार नहीं करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३३५ की टीकामें व्यवहाराचार सूत्रका[1] उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्दने उसी व्यवहार-सम्यक्चारित्रको तब विश्वकुम्भकी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परंपरया मोक्षके कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्रकी नियमसे उपयोगिता है। लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्रकी उपयोगिता है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है, आगे नहीं।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगममें निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है और व्यवहारमोक्षमार्गको जो अभूतार्थ, असद्भूत, अ-वास्तविक या असत्यार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है, तो इसमें आगमका अभिप्राय क्या है ?

आगममें निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है इसमें आगमका अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्गकी इससे साक्षात् कारणताका बोध हो जाता है और चूँकि मोक्ष-की साक्षात् कारणताका व्यवहारमोक्षमार्गमें अभाव पाया जाता है, कारण कि उसमें तो परंपरया ही कारणता पायी जाती है। अतः उसे अभूतार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि "व्यवहारमोक्षमार्गकी मोक्षकी प्राप्तिमें कुछ भी उपयोगिता नहीं है, वह तो वहाँ पर सर्वथा अकिं-चित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षप्राप्तिमें परंपरया कारण नियमसे होता है। इस तरह व्यवहारमोक्षमार्गमें मोक्षप्राप्तिकी साक्षात् कारणताका अभाव रहनेसे जहाँ अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहाँ उसमें मोक्षप्राप्तिकी परंपरया कारणताका सद्भाव रहनेसे भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योंकि उसमें मोक्षकी साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहारमोक्षमार्ग कथंचित् भूतार्थ आदि हैं क्योंकि उसमें मोक्षकी परंपरया कारणता विद्यमान है और कथंचित् अभूतार्थ आदि भी हैं क्योंकि उसमें मोक्षकी साक्षात् कारणताका अभाव है। इस तरह इसे सर्वथा अभूतार्थ तो नहीं माना जा सकता है, कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११वें और १२वें गुणस्थानमें ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको होती है तो इसे मोक्षका सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है, जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके ?

इस कथनका तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्तिके साक्षात् कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति किसी भी जीवको व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाये बिना संभव नहीं है। अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको हर हालतमें व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाना ही होगा।

इतना स्पष्टीकरण हो जानेके बाद जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्गको संसारका कारण मानते हैं वे बहुत

१. अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही य विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं परिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥
—व्यवहाराचारसूत्र

२. समयसार, गाथा, ३०६-३०७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारी भूल करते हैं। कारण कि संसारके मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें देशघाती प्रकृतियोंका उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि संसारका कारण होता है लेकिन उसमें (क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें) जितना अंश यथाविधि उपशम या क्षयके रूपमें सर्वघाती कर्मके उदयाभावरूप रहा करता है वह कभी संसारका कारण नहीं होता हैं।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृतिके प्रभावसे ऐसा जीव मर कर उत्तम गतिमें ही जन्म लिया करता है[2] और परंपरया उस देशघाती प्रकृतिके प्रभावको समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[3]

निश्चयमोक्षमार्गकी सर्वथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्गकी कथंचित् भूतार्थता और कथंचित् अभूतार्थताको सिद्धिमें एक तर्क यह भी है कि निश्चयमोक्षमार्ग सर्वथा बन्धका अकारण है जबकि व्यवहार-मोक्षमार्ग पूर्वोक्त प्रकारसे कथंचित् बन्धका अकारण है और कथंचित् बन्धका कारण भी है। अतः मुक्तिका सर्वथा कारण होनेसे निश्चयमोक्षमार्गको सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथंचित् बन्धका कारण तथा कथंचित् बन्धका अकारण होनेसे जब व्यवहारमोक्षमार्गमें कथंचित् संसारकी कारणता और कथंचित् मुक्तिकी कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकारसे उसे मुक्तिकी कथंचित् अकारणताके आधारपर कथंचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्तिको कथंचित् कारणताके आधार पर कथंचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिलकुल अनुचित है, क्योंकि सर्वथा अभूतार्थता तो संसारके सर्वथा कारणभूत या मोक्षके सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें सिद्ध होती है। यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादिकी अपेक्षा भेद ही क्या रह जायेगा ? अर्थात् कुछ भेद नहीं रह जायगा।

करणानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थ

इस लेखके आरम्भमें हम कह आये हैं कि करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये हैं कि आत्माका स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। प्रकृतमें जो कुछ विवेचन किया गया है वह सब इसके आधार पर ही किया गया है।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतंत्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहक स्वभावके आधार पर विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने उदरमें एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभावके आधार पर विश्वकी संपूर्ण वस्तुओंको एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्रमें फँसे हुए हैं उन्होंने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वकी संपूर्ण वस्तुओंको एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवोंमें एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामें इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोंकी अधीनतामें ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थोंको देखने-जाननेके

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१२, २१३, २१४।
२. प्रवचनसार, गाथा, ११-१२।
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोंमें इष्टपन या अनिष्टपनकी कल्पनारूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमें और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमें विषाद हुआ करता है। यदि किन्हीं-किन्हीं जीवोंको इस प्रकारसे हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीरकी अधीनतामें ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्हीं दूसरे पदार्थोंकी अधीनता स्वीकार किए हुए है तो ऐसी स्थितिमें शरीरके लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमें अथवा शरीरके लिये पीड़ाकारक पदार्थोंकी अप्राप्तिमें और प्राप्तिमें उन्हें भी क्रमसे सुख व दुःखका संवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी संसारी जीव अनादिकालसे अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए हैं। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीइन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय भी हुए हैं। इसी तरह कभी मनरहित असंज्ञी और कभी मनसहित संज्ञी भी हुए हैं। इन्होंने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणीके जीवोंके शरीरोंमें भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोकमें प्रभावशाली देखे जाते हैं और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते हैं। एक जीव में उच्चताका और एक जीवमें नीचताका भी व्यवहार लोकमें देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवको जन्म-मरण भी धारण करना पड़ रहा है।

यह सब क्यों हो रहा है ? इसका समाधान आगम-ग्रन्थोंमें इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतःसिद्ध जानने-देखनेके स्वभावको न छोड़ते हुए भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्गलिक कर्मोंके साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपसे एकमेकपनेको प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारके आगममें बतलाये गये हैं।[2] आगममें यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरणकर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है, दर्शनावरणकर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीयकर्मका कार्य जीवको परपदार्थोंके आधारपर यथायोग्य सुख और दुःखका संवेदन कराना है, मोहनीयकर्मका कार्य जीवको परपदार्थोंके आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित-अनुचितके भेदसे रहित प्रवृत्तियोंमें व्यवहृत कराना है, आयुकर्मका कार्य जीवको प्राप्त शरीरमें सीमित काल तक रोक रखना है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त कराना है, गोत्रकर्मका कार्य कुल, शरीर और आचरण आदिके आधारपर जीवमें उच्चता-नीचताका व्यवहार कराना है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।[3]

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोंको जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों) द्वारा बाँधता है[4] और तब ये कर्म जीवके साथ बँध कर उसमें सीमित कालके लिये अपनी सत्ता बना

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २।
२. वही, गाथा ८।
३. किस कर्मका क्या कार्य है, इसकी सामान्य जानकारीके लिये गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।
४. समयसार, गाथा ८०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते हैं तथा अन्तमें उदयमें आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये कर्म तो निर्जरित हो जाते हैं[1]। लेकिन उस फलानुभवसे प्रभावित होकर अपनेमें उत्पन्न विकारी भावों द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरहके नवीन कर्मोंसे पुनः बँध जाता है। ये कर्म उदयमें आकर अपना फलानुभव जिस रूपमें जीवको कराते हैं वह जीवका औदयिक भाव कहलाता है[2] क्योंकि जीवका उस रूप भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं। कदाचित् कोई जीव अपनेमें सत्ताको प्राप्त यथायोग्य किसी कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमें (उदयमें) असमर्थ हो जाता है, कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका औपशमिक भाव कहते है।[3] कदचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन* बना देता है, जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्ध सर्वथा समूल विछिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते हैं।[4] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्मके कुछ अंश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहें, कुछ अंश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षयरूप हो जावें और कुछ अंश (सर्वघातीरूप) सदवस्थारूप उपशमकी स्थितिको प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्मकी क्षयोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते है[5]। क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मोंके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीवकी अवस्थायें भी क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकरूप हो जाया करती है[6]। अब इनमें यदि कारणताकी व्यवस्थाकी जाय तो कहा जा सकता है—जीवकी इन औदयिकादि अवस्थाओंकी उत्पत्तिमें कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओंके आधारपर व्यवहारकारण होता है और जीव स्वयं निश्चयकारण है। जैसा कि नयचक्रकी निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट होता है—

"बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्षमें अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अवस्थाओंके आधार पर व्यवहाररूपसे कारण होता है और जीव निश्चयरूपसे कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहाररूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायकरूपसे कारण होता है और "जीव निश्चयरूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादानरूपसे कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्ममें जीवके बन्ध और मोक्षकी उत्पत्तिके प्रति यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर निमित्तकारणताका सद्भाव सिद्ध

१. विपाकोऽनुभवः। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८।२१, २२, २३।
२. पंचाध्यायी, २।६७। धवला पुस्तक १ पृष्ठ २१२।
३. पंचाध्यायी, २।९६८। पंचास्तिकाय, गाथा ५८ तथा उसकी टीका
४. पंचाध्यायी, २-९६९। *धवल, पुस्तक १, पृ० २१२।
५. वही, २।९६६।
६. वही, २।९६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है तथा जीव स्वयं अपने उस बन्ध और मोक्षके प्रति उपादान कारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्मकी उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अवस्थाएँ होती हैं तब जीव अपनी विकारी योग्यताके कारण क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओंके रूपमें अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औदयिकादि परिणतियोंके रूपमें परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओंके आधारपर आत्माकी उन अवस्थाओंकी उत्पत्तिमें सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्मकी कोई परिणति यहाँपर जीवकी परिणति बन जाती हो—ऐसी बात नहीं है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्यरूप परिणत हो उसे उपादान कहते हैं।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर 'निमित्त' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'मित्र' शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उपादानको उसकी अपनी परिणतिमें मित्रके समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहाँपर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वयं कार्यरूप परिणत होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चयः"[3] इस आगमवाक्यके अनुसार उसे कार्यका निश्चयकारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादानको उसकी अपनी कार्यरूप परिणतिमें सहयोग मात्र देनेके कारण "पराश्रितो व्यवहारः"[4] इस आगमवाक्यके अनुसार निमित्तको कार्यका व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनों कारणोंमें निश्चयकारणता और व्यवहारकारणताका अन्तर रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों ही कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारणको निश्चयकारणके रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारणको भी व्यवहारकारणके रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अयुक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार उपादानका कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तका उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूँकि निमित्त उपादानकी तरह कार्यरूप परिणत नहीं होता, अतः इस दृष्टिसे उसमें यदि अभूतार्थता आदि धर्मोंका सद्भाव माना जाय तो यह भी असंगत नहीं है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूंकि कार्यरूप परिणत नहीं होता, इसलिये तो कथंचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होता है, अतः कथंचित् भूतार्थ आदि भी है। अतः जो व्यक्ति निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते हैं उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभवमें यह बात आती है कि उपादानकी कार्यपरिणतिमें निमित्तके सहयोगकी अनिवार्य रूपसे सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जब तक उपादानको आवश्यकतानुसार स्वाभा-

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १३।

२. समयसार, गाथा ८६ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "यः परिणमति स कर्ता....." आदि पद्यों द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३-४. समयसार, गाथा २७३ की समयसार-टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विक रूपसे अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्तका सहयोग प्राप्त नहीं होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नहीं होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादानमें कार्योत्पत्तिके लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकनेरूप असामर्थ्यका नियमसे भेदन करने वाला है। आगममें भी इस बातको स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्तिमें यदि उपादानसे कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्यका भेदन नहीं करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते हैं कि "कार्य तो उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्यसे ही उत्पन्न कर लेता है उसमें उसको निमित्तके सहयोगकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहा करती है, वह तो वहाँपर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है," तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ़ होकर ऐसा कहते हैं कि "निमित्त अपने रूपका समर्पण कार्यमें करता है," तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्यमें अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्तमें उपादानकी अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा ? अर्थात् ऐसी स्थितिमें निमित्त स्वयं ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना ही असंगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनोंमें यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्तके मतानुसार चित्से अचित्की उत्पत्ति होती है और चार्वाकके मतानुसार अचित्से चित्की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्को अचित्का और चार्वाक अचित्को चित्का उपादान कारण मानते हैं। जैनदर्शन इन दोनों ही मान्यताओंका खण्डन करता है, कारण कि जैनदर्शनका यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता और न कभी एक द्रव्यके गुण-धर्म ही किसी अन्य द्रव्यमें संक्रमित होते हैं।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाककी उक्त मान्यताओंका खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित्को अचित्-की परिणतिमें तथा अचित्को चित्की परिणतिमें निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें इन दोनों बातोंका विस्तारसे विवेचन किया है। अर्थात् समयसारमें स्थान-स्थानपर यही बात देखनेको मिलती है कि उसमें जहाँ एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी उपादानकारणताके सद्भाव का दृढ़ताके साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढ़ताके साथ एक वस्तुमें दूसरी वस्तु की निमित्त-कारणताका समर्थन भी किया गया है[4] और यह बात हम पूर्वमें स्पष्ट ही कर चुके हैं कि निमित्तकारणता उपादानकारणताके रूपमें अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वयं अपने रूपमें तो वह भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-में तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३के अन्तर्गत पृष्ठ. ५१ पर सहकारी—निमित्त कारणकी उपादानकी कार्यपरिणतिमें सहकारितारूपसे पारमार्थिकता (वास्तविकता) को स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।[5]

---

१. तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?—आप्तमीमांसा कारिका, १०की अष्टशती-टीका।

२. जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे। —समयसार, गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध।

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२, १३।

४. समयसार, गाथा ८०, ८१।

५. क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्त-विरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेवं व्यवहारनय-समाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँपर उपादानकारणता और निमित्तकारणताके स्वरूपका, उनकी क्रमसे निश्चयरूपता और व्यवहाररूपताका एवं दोनोंकी अपने-अपने रूपमें वास्तविकताका जो विश्लेषण किया गया है, उसका प्रकृतमें उपयोग यह है कि जीवकी पूर्वोक्त औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोंके प्रति कर्ममें जो उदयादिकके आधारपर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूपसे अर्थात् निमित्तरूपसे है और जीव स्वयंमें उन औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जो कारणताएँ विद्यमान हैं वे निश्चयरूपसे अर्थात् उपादानरूपसे हैं तथा साथ ही ये दोनों ही कारणतायें अपने-अपने रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योंकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जीव स्वयंकी उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकारसे कल्पनारोपित नहीं है उसी प्रकार जीवकी उन औदयिकादि परिणतियोंके प्रति अपनी उदयादिपरिणतियोंके आधारपर सहयोगी होनेके कारण कर्ममें विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नहीं है। इतना अवश्य है कि चूँकि उपादानकारण होनेके सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है, इसलिये उपादानकारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्तकारण होनेके सक्य चूंकि कर्म स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता, इसलिये वह कथंचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादानभूत जीवकी कार्यभूत औदयिकादि परिणतियोंमें अपनी उदयादिपरिणतियोंके आधारपर वह सहायक अवश्य होता है, अतः वह सहायकपनेकी अपेक्षा कथंचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहाँ पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियोंको छोड़कर और कुछ नहीं है अर्थात् कर्मका उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूपसे परिणत होना ही जीवकी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोंके प्रति कर्मकी क्रमशः निमित्तकारणता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि कर्मकी उदयादिकपरिणतियाँ अलग हैं और जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति उसमें (कर्ममें) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरहसे विचार किया जाय तो कर्मकी उदयादिक परिणतियाँ उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतियाँ होनेके कारण जहाँ "स्वाश्रितो निश्चयः" इस आगमवाक्यके आधारपर उसके निश्चयधर्म हैं वहाँ कर्मकी वे ही परिणतियाँ जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति यथायोग्य रूपमें निमित्तकारणताका रूप धारण कर लेनेसे "पराश्रितो व्यवहारः" इस आगमवाक्यके आधारपर निमित्तकारणताके रूपमें उसके व्यवहारधर्म भी हैं। अब ऐसी हालतमें भी यदि निमित्तकारणताकी भूतार्थता आदिके विषयमें विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति कर्ममें विद्यमान निमित्तकारणता जहाँ उस कर्मकी उदयादि परिणतियोंके रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वहीं उसका कर्ममें उदयादि परिणतियोंसे पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व न रहनेके कारण वह कर्मका अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरहसे भी जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्मका कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तिक धर्म ही सिद्ध होती है। गधेके सींगकी तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदिके रूपमें कदापि नहीं माना जा सकता है।

इस कथनको निचोड़ यह है कि जीवकी जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतियाँ हुआ करती हैं वे सब परिणतियाँ जीवकी अपनी ही परिणतियाँ हैं। इसलिये जीव इन परिणतियोंका उपादानकारण या निश्चयकारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतियाँ क्रमशः कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर ही होती हैं, इसलिये कर्म जीवकी इन औदयिकादि परिणतियोंका अपनी उदयादिक परिणतियोंके आधार पर निमित्तकारण या व्यवहारकारण होता है। चूँकि कर्मके उदयादिकके अभावमें जीवकी ये औदयिकादि परिणतियाँ कदापि नहीं होती हैं, अतः कर्मको जीवकी इन परिणतियोंमें अकिंचित्कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या निरुपयोगी मानना मिथ्या है और चूँकि कर्मकी कोई परिणति कदापि जीवकी परिणति नहीं बनती है, इसलिए कर्मको जीवकी औदयिकादि परिणतियोंका उपादानकारण या निश्चयकारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तकके विवेचनसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जानी चाहिये कि चरणानुयोगके प्रकरणमें मोक्षकार्यकी दृष्टिसे जो निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दोंके आधारपर क्रमशः निश्चयमोक्षमार्गमें मोक्षकी साक्षात् कारणताके और व्यवहारमोक्षमार्गमें मोक्षकी परंपरया कारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। इसी प्रकार वहीं पर जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रका तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान, और व्यवहारसम्यक्चारित्रका कथन किया गया है वह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दोंके आधार पर क्रमशः निश्चयसम्यग्दर्शनादिमें तो कार्यताके और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकमें कारणताके अस्तित्व-का ही बोध कराता है। इसके अतिरिक्त करणानुयोगके प्रकरणमें जीवके बन्ध और मोक्षरूप अथवा जीवकी औदयिकादिपरिणतिरूप कार्य और उसके अभावरूपकारणकी दृष्टिसे जो नयचक्रकी उपर्युक्त २३५ वीं गाथाके अनुसार निश्चयकारण और व्यवहारकारणके रूपमें दो कारणोंका कथन किया गया है वह कथन निश्चयशब्दके आधार पर जीव स्वयंमें उपादानकारणताके और व्यवहारशब्दके आधार पर कर्ममें यथायोग्य उदयादिरूपसे निमित्तकारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि द्रव्यानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्या अर्थ ग्रहण किया गया है ?

द्रव्यानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थ

लेखके प्रारम्भमें हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी संपूर्ण वस्तुओंके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलानेवाले स्वतः सिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोंका विवेचन किया गया है। यहाँ प्रकृत विषय पर इसीको आधार बनाकर विचार किया जा रहा है।

जैनागममें बतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतंत्र सद्रूपता ही वस्तुका लक्षण है। प्रत्येक वस्तुकी यह सद्रूपता स्वतंत्र तभी मानी जा सकती है जबकि वह स्वतः सिद्ध हो, अतः कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी सद्रूपता स्वतःसिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तुकी सद्रूपता स्वतःसिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तुमें निम्नलिखित चार विशेषताएँ अनायास सिद्ध हो जाती हैं।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादिकालसे रहती आ रही है), अनधिन है (अनन्तकाल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने-अपने स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिये हुए है।) इस विषयको पंचाध्यायीमें निम्न प्रकारसे स्पष्ट किया गया है—

"तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादि-निधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥१-८॥"

इस प्रकार विश्वमें अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वतःसिद्ध सद्रूपताको प्राप्त संपूर्ण वस्तुओंकी संख्या अनन्तानन्त है। इनमें भी जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवोंकी संख्यासे भी अनन्तानन्त गुणे हैं, काल असंख्यात हैं और धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक हैं।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुएँ सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके छह द्रव्य प्रकारोंमें समाविष्ट होती हैं।[2]

---

१. सर्वार्थसिद्धि-टीका-१-२९।

२. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। द्रव्याणि। जीवाश्च। कालश्च।—तत्त्वार्थसूत्र ५-१, २, ३, ३९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक वस्तुमें अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तगुण विद्यमान हैं। इन्हें धर्म या स्वभाव भी कहते हैं।[१] वस्तुका जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नहीं हो सकता है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमें गुणोंकी संख्या अनन्त ही सिद्ध होती है।[२]

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमनशील है इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि अगुरुलघुगुणके अतिरिक्त शुद्ध द्रव्यके अन्य गणोंके शक्त्यंशोंमें हानि-वृद्धि होती है।[३] इस प्रकार सभी वस्तुओंकी निम्नप्रकार स्थिति निश्चित होती है—

"वस्तुकी आकृति (प्रदेशवत्तारूप द्रव्यरूपता), वस्तुकी प्रकृति (स्वभाववत्तारूप गुणरूपता और वस्तुकी तथा वस्तुके प्रत्येक गुणकी विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोगमें द्रव्यरूपताके साथ-साथ वस्तुकी अनन्त द्रव्यपर्यायों तथा वस्तुके अनन्तगुणों और उन गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणकी अनन्तगुणपर्यायोंके रूपमें वस्तुका जैनागममें विश्लेषण किया गया है।[४]

प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त्त, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिके रूपमें विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) हैं। इस तरह प्रत्येक वस्तुको जैनागममें सत् मानते हुए भी उस सत्ताको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[५] अर्थात् जैनागममें प्रत्येक वस्तुमें द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायोंके रूपमें तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्वके रूपमें ध्रौव्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् परिणमनमें वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोड़ती है और न ही एक वस्तुकी अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तुरूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशासे जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्योंमें समझना चाहिये। इतना ही नहीं,

---

१. पंचाध्यायी, १–४८।

२. पंचाध्यायी, १–४९, ५२।

३. (क) वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।–पंचाध्यायी, १-८९।
(ख) वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।–पंचाध्यायी, १-११२।

४. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा ९३।
इह हि किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात् गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। —प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा १ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

५. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वा० ५–२९, ३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक जीव कभी दूसरे जीवरूप परिणत नहीं होता, एक पुद्गलाणु कभी दूसरा पुद्गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुएँ यथायोग्य एक-दूसरी वस्तुके साथ संयुक्त होकर ही रह रही हैं।[1] इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलोंमें ऐसी स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नामकी विशेषता विद्यमान है[2], जिसके आधारपर सभी जीव अनादिकालसे यथायोग्य पुद्गलोंके साथ संबद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपमें एकमेकपनेको प्राप्त रहे हैं। उनमेंसे बहुतसे जीवोंने यद्यपि पुद्गलोंके साथ विद्यमान अपनी अनादिकालीन उस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्थामें रह रहे हैं।[3] बहुतसे पुद्गल अपनेमें विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्तिके आधारपर अनादिकालसे जीवोंके साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे हैं, साथ ही बहुतसे पुद्गल एक-दूसरे पुद्गलोंके साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे हैं।

जिन जीवोंने पुद्गलोंके साथ अनादिकालसे विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुनः पुद्गलोंके साथ बद्ध नहीं होंगे। परन्तु पुद्गल एक बार जीवके साथ अथवा अन्य पुद्गलोंके साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त करके भी पुनः उस योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्गलाणुओं और पुद्गलस्कन्धोंके साथ हमेशा ही बँधते और बिछुड़ते रहते हैं।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्वको नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्वको कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तुके अन्य गुणरूप अथवा अन्य वस्तुके गुणरूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुकी अथवा प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक गुणकी प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्ययरूपताको धारण किये हुए है। परन्तु इन सभी पर्यायोंमें भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तुकी कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तुकी पर्याय होती है व एक गुणकी भी कोई पर्याय केवल उसी गुणकी पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकारसे सतत प्रतिनियतताको ही धारण किये हुए हैं।[4]

प्रत्येक वस्तुमें यथासंभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियमसे स्वपर-प्रत्यय ही हुआ करते हैं। लेकिन प्रत्येक वस्तुमें जो गुणपरिणमन होते हैं उनमेंसे कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते

---

१. (क) सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीय-द्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽप्यत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादापतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।
—समयसार, गाथा ३, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा, ७।

२. पंचाध्यायी, २–४५।

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १९६।

४. (अ) जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे।—समयसार, गाथा १०३।
(आ) समयसार, गाथा ७६, ७७, ७८, ७९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकारसे होते हैं। उनमेंसे एक प्रकार तो स्वप्रत्ययका है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्ययका है।[1] यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तुका कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नहीं होता है।[2]

प्रत्येक वस्तुमें जो गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमनशक्तिके आधारपर परकी अपेक्षाके बिना ही केवल स्वतः होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तुमें जो द्रव्य या गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमन शक्तिके आधारपर परवस्तुका सहयोग मिलनेपर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशोंमें अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानिके रूपमें तथा इसके अनन्तर अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धिरूपमें जो परिणमन समय-समयके विभागपूर्वक सतत हुआ करता है उसे तो स्वप्रत्यय परिणमन[3] जानना चाहिये। इसके अलावा प्रत्येक वस्तुमें होनेवाले शेष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय[4] ही हुआ करते हैं। ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहारकालके समय, आवली, घड़ी, मुहूर्त्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शनोंमें परप्रत्यय परिणमनोंको भी स्वीकार किया गया है। जैसा पूर्वमें हम बतला आये हैं कि वेदान्तदर्शनमें चित्को अचित्का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शनमें अचित्को चित्का उपादान मान लिया गया है। परन्तु जैनदर्शनमें चूँकि पर-प्रत्यय परिणमनका सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुभव सिद्ध भी है इसलिये वस्तुमें परप्रत्ययपरिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनोंकी इन मान्यताओंका वहाँ पर (जैनदर्शनमें) खण्डन किया गया है। और यही कारण है कि जैन मान्यताके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंकी जितनी संख्या विश्वमें निर्धारित की गयी है वह नियत है, उसमें कभी घटा-बढ़ी नहीं हो सकती है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशोंके आधारपर होनेवाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय गुणपरिणमनोंका संकेत ऊपर हम कर चुके हैं। वस्तुके स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनों और गुणपरिणमनोंका विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

---

१. द्विविधः उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। —सर्वार्थसिद्धि-टीका, ५–२।
नोट—यहाँ पर पर-प्रत्ययसे तात्पर्य स्वपरप्रत्ययका आगमानुसार ग्रहण किया गया है।

२. समयसार, गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक।

३. स्वनिमित्तस्तावदतन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।—सर्वार्थसिद्धि, ५–७।

४. स्वश्च परश्च, स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपर-प्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते ? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति। तत्समर्थश्च स्वः प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतू भवतः, नान्यतरापाये कुशूलस्थमाषपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५–२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवका शरीरके छोटे-बड़े आकारके अनुसार जो छोटा-बड़ा आकार यथासमय बनता रहता है तथा जीवकी नर-नारकादि पर्यायोंके रूपमें पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी तथा इसी प्रकारके प्रत्येक वस्तुमें अन्य वस्तुके यथायोग्य संयोग या मिश्रणसे होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थको जाननेरूप परिणमन आत्माकी उस ज्ञानशक्तिमें विद्यमान परिणमन करनेकी योग्यताके आधारपर उस-उस पदार्थका योग मिलनेपर ही हुआ करता है। यह आत्म-वस्तुका स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जानने रूप परिणमनमें पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञानशक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान पदार्थके अभावमें कदापि पदार्थज्ञानरूप परिणमन नहीं कर सकता है। यही कारण है कि केवलज्ञानकी शक्ति विश्वमें विद्यमान सभी पदार्थोंसे अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वज्ञ उसके द्वारा केवल उन्हीं पदार्थोंको जानता है जो अपनी सद्रूपताको धारण किये हुए हैं। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थका सहयोग मिले केवलज्ञानका परिणमन पदार्थको जानने रूप नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्तिका पदार्थज्ञानरूप परिणमन पदार्थाधीन ही सिद्ध होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो पदार्थके साथ-साथ यथायोग्य पाँच पौद्गलिक इन्द्रियों तथा छठे मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जाननेरूप परिणमनमें स्वगत योग्यताके साथ-साथ पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियों और मनकी कारणता भी रहा करती है। इतना ही नहीं, मतिज्ञानमें प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें शब्द भी कारण हुआ करते हैं।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें आत्माकी ज्ञानशक्तिमें रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है और पदार्थोंमें रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है तथा इन्द्रियोंमें, मनमें और प्रकाशमें रहनेवाली कारणता भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। इसी तरह श्रुतज्ञानमें शब्दकी कारणता भी भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् आत्माकी ज्ञानशक्तिकी जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योंकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थोंमें, मनमें, इन्द्रियोंमें, प्रकाशमें और शब्दमें जो कारणता है वह निमित्तरूप है क्योंकि ये सब स्वयं पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें सहायक होते हैं। इनमें भी आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें पदार्थ अवलम्बनरूपसे निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशोंपर दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थज्ञानरूप परिणमन होता है, अन्यथा नहीं। इन्द्रियाँ और मन करणरूपसे निमित्त होते हैं। प्रकाश विद्यमानता रूपसे ही निमित्त होता है। श्रुतज्ञानमें शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते हैं।

पूर्वमें हम इस बातका कथन कर आये हैं कि कार्यके प्रति कार्यसे अभिन्न वस्तुमें विद्यमान उपादानकारणता स्वाश्रित धर्म होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चयः" इस आगमवाक्यके अनुसार निश्चयरूप है और उसी कार्यके प्रति कार्यसे भिन्न वस्तुमें विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहारः" इस आगमवाक्यके अनुसार व्यवहाररूप है।

पूर्वमें हम यह भी कह आये हैं कि जिसमें निश्चयरूपता रहा करती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सद्भूत या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमें व्यवहाररूपता रहा करती है वह कथंचित् वास्तविक आदि

१. त्रिलोकसार, द्विरूपवर्गधारा प्रकरण, गाथा ६९, ७०, ७१, ७२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और कथंचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूँकि निश्चयरूप कारण है, इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादानकारणमें इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक रहता है तब तक कार्यमें उपादानकी अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है। लेकिन निमित्तकी अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्यके उत्पन्न हो जाने पर निमित्तकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है। अतः जब तक कार्यमें उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्तको उस अपेक्षाके रूपमें वास्तविक ही कहा जायगा और कार्यके उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है, अतः तब उसे इस दृष्टिसे अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्तिमें सहायक ही होता है, अतः इस दृष्टिसे तो यह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नहीं होता, अतः इस दृष्टिसे वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं।

इस तरह उपादानमें तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्तमें कथंचित् वास्तविकता तथा कथंचित् अवास्तविकता रहनेके कारण उपादान तो कार्यमें निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहारकारण होता है।

इसी प्रकार जो वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत् है वह परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत्तारूप धर्म विद्यमान है तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत्तारूप धर्म विद्यमान है। जैसे आत्मा चित् है। यहाँपर जिस प्रकार आत्मामें चिद्रूप धर्मकी सत्ता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसके अचिद्रूप धर्मकी असत्ता भी सिद्ध होती है। अतः कहना चाहिये कि आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव और अचिद्रूपताका अभाव इन दोनों धर्मोंमेंसे चिद्रूपताका सद्भाव आत्माका स्वरूपपरक धर्म होने, अत एव स्वाश्रित धर्म होनेके कारण निश्चयधर्म है व अचिद्रूपताका अभाव स्वरूपपरक धर्म न होने, एतावता पराश्रित धर्म होनेके कारण व्यवहारधर्म है। ये दोनों ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मामें अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे हैं। यही कारण है कि जैनागममें यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रत्येक प्रकारकी सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ताके साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नहीं माना जायगा अर्थात् आत्मामें चिद्रूपताके सद्भावके साथ अचिद्रूपताका अभाव नहीं माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्माका अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्योंके साथ वास्तविक भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव वास्तविक है उसी प्रकार उसमें अचिद्रूपताका अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपताका सद्भाव अपनी स्वाश्रयताके कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहाँ अचिद्रूपताका अभाव पराश्रयताके कारण कथंचित् वास्तविक है और कथंचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपताका अभाव एक और अखण्ड धर्म नहीं है, क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओंकी अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमेंसे प्रत्येककी अचिद्रूपताका अभाव भी आत्मामें भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मामें नाना अचिद्रूपताओंके अभाव (स्वान्यन्यावृत्तियाँ) भी नाना सिद्ध हैं और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपताको व्यवहारधर्म व एकरूपता और अखण्डरूपताको निश्चयधर्म इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्तिके आधार पर हम पूर्वमें प्रतिपादित कर ही चुके हैं।

भावरूपताको निश्चयशब्दका प्रतिपाद्य और अभावरूपताको व्यवहारशब्दका प्रतिपाद्य माननेमें एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म अपने वैशिष्ट्यके कारण उस वस्तुको स्वतंत्रताका निर्णायक

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, १५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, अभावरूप धर्म नहीं। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओंमें भी समानता लिये हुये पाये जाते हैं। जैसे जीवमें पुद्गलद्रव्यकी-अचिद्रूपताका जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्यकी अचिद्रूपताका अभाव आकाशादि वस्तुओंमें भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओंमें पुद्गलद्रव्यसे भेद करना असंभव हो जायगा। अथवा यों कहें कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओंकी अचिद्रूपताका जैसे अभाव एक जीवमें है वैसा ही अभाव अन्य जीवोंमें भी है तो इस तरह नाना जीवोंमें परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असंभव हो जायगा। इसलिये मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म ही उस वस्तुकी स्वतंत्रताका निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नहीं। इस तरह भावरूप धर्मको निश्चयधर्म तथा अभावरूप धर्मको व्यवहारधर्म कहना उचित ही है। अनन्तानन्त जीवों, अनन्तानन्त पुद्गलों, असंख्यात कालद्रव्यों तथा एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश इन सबका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओंके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको सुरक्षित रखे हुए है। अन्यथा जीवोंकी अनन्तता, पुद्गलोंकी अनन्तता और कालद्रव्योंकी असंख्यातता भंग हो जायगी। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण वस्तुओंमें एकत्वका प्रस्थापन होकर संपूर्ण जगत् अद्वैतताके साँचेमें ढल जायगा। एक बात और है। अभावको जैनदर्शनमें भावान्तर स्वभाव माना गया है, भावको अभावान्तर स्वभाव नहीं। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक (भावात्मक) धर्मके आधार पर ही वस्तुकी स्वतंत्रताका भान हो सकता है, असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तुकी स्वतंत्रताका भान करनेमें कदापि सहायक नहीं हो सकता है। ये सब कारण हैं जिनके आधार पर हमें प्रत्येक वस्तुके भावात्मक धर्मको निश्चयधर्म और अभावात्मक धर्मको व्यवहारधर्म ही स्वीकार करना पड़ता है। यह सब निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था वस्तुके नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व-अनेकत्व आदि वस्तुधर्मोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इस विषयको पंचाध्यायी ग्रन्थमें अध्याय प्रथमके श्लोक १५ से श्लोक २२ तक विस्तारसे स्पष्ट किया है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तुके निश्चयधर्मको निश्चयरूपसे अर्थात् सर्वथारूपसे वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तुके व्यवहारधर्मको व्यवहाररूपसे अर्थात् कथंचित् रूपसे वास्तविक मानना ही उचित है। गधेके सींगकी तरह सर्वथा अवास्तविक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नहीं है।

इन सब निश्चय-व्यवहारधर्मोंके अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहारधर्मोंके विषयमें विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ द्रव्यानुयोगकी दृष्टिमें उपर्युक्त प्रकारसे विधिरूप धर्म निश्चय और निषेधरूप धर्म व्यवहारधर्म माना जाता है वहाँ करणानुयोगकी दृष्टिमें निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुक्ति संसारका अभावरूप धर्म है लेकिन पराश्रितताका अभावरूप धर्म होकर भी आत्माकी स्वतंत्रतारूप स्वाश्रयताका बोधक होनेसे निश्चयधर्म है तथा संसार आत्माकी परतंत्रता-रूप पराश्रितताका बोधक होनेके कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता आदि परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोंमें भी निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था बैठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरंग और बाह्य आदिके विकल्पोंमें भी पूर्व-पूर्वका धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तरका धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्मको वस्तुका निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्मको वस्तुका व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमें सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दोंके व्युत्पत्त्यर्थोंके आधारपर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बातका ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चयधर्म हैं जो अपने-अपने ढंगसे सर्वथा वास्तविक हैं और वे व्यवहारधर्म हैं जो अपने-अपने ढंगसे कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तविक हैं। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म कहना असंगत, मिथ्या या कल्पनारूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मोंको ही व्यवहार धर्मके रूपमें समझ बैठे हैं वे महान् भ्रमके शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगोंने व्यवहारधर्मको भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रक्खा है वे भी महान् भ्रमके शिकार हो रहे है।

लोकमें भी व्यवहारधर्मको कथंचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे—"यह शरीर मेरा है", "यह मकान मेरा है", "यह द्रव्य मेरा है", "ये मेरे स्वजन है", "मैं अमुक समाजका व्यक्ति हूँ" और "अमुक ग्राम या देशका रहनेवाला हूँ" इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही हैं तो लोककी और अध्यात्मकी संपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी, क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकताका ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषोंकी तो कल्पना करके रूह काँपने लग सकती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थानपर वस्तुका जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है। परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते हैं जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे—पुद्गलाणुओंके मिश्रणसे बनी हुई मिट्टीरूप स्कंधपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिट्टी घटोत्पत्तिमें निश्चय-रूपताको प्राप्त हो जाती है। यही कारण कि मिट्टीरूप स्कंधपर्यायको द्रव्यके रूपमें यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्तः (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुनः कह देना चाहते हैं कि परसापेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना निश्चयकी कसौटी है, कथंचित् वास्तविकता और कथंचित् अवास्तविकताका होना व्यवहारकी कसौटी है तथा परनिरपेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना मिथ्यारूपता की कसौटी है।

उपसंहार

अध्यात्मके प्रकरणमें जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गका विवेचन किया गया है और उससे जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यकचारित्रको व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषयमें इसतरह निश्चय-व्यवहारका विभाजन करना चाहिये कि किसमें, किस तरहसे स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमें, किस तरहसे पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती हैं। इसप्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक्चरित्र ये सभी निश्चयधर्मकी कोटिमें आते हैं। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक्चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) हैं, जबकि क्षायिकसम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) हैं। इन सबको निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्मके उपशम या क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते हैं। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिकसम्यक्चारित्र ये दोनों व्यवहारधर्मकी कोटिमें आते हैं। इनको व्यवहारधर्म कहनेका कारण यह है कि ये दोनों उस-उस कर्मके क्षयोपशमसे पैदा होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्तिमें उस-उस कर्मकी सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमानमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय, आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय, इसतरह कर्मका उदयांश, उपशमांश और क्षयांश तीनों ही कारण होते हैं। ऐसी स्थितिमें इनमें जहाँ कर्मके उपशम और क्षयकी अपेक्षा आत्माश्रितता पायी जाती है वहाँ कर्मके उदयकी अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमें जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारकी कारणताका अभाव पाया जाता है वहीं संसारकी कारणताका सद्भाव भी पाया जाता है। अथवा यों कहिये कि जहाँ इनमें मोक्षकी कारणताका सद्भाव पाया जाता है वहीं मोक्षकी कारणताका अभाव भी पाया जाता है।[1]

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जीवके चौथे गुणस्थानसे सप्तमगुणस्थान तक ही संभव है, औपशमिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवें तक तथा उपशमश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें एवं उपशांतमोह नामक ११वें गुणस्थानमें संभव है तथा क्षायिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवें तक तथा उपशमश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें एवं ११वें उपशान्तनामक गुणस्थानमें भी संभव है। इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें तथा क्षीणमोहनामक १२वें गुणस्थानमें एवं उसके आगे सर्वत्र नियमसे क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। चौथे गुणस्थानसे पूर्व प्रथम गुणस्थानमें मिथ्यात्वके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न औदयिकभावके रूपमें तथा तृतीय गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूपमें सम्यग्दर्शनका सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानोंमें निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन नहीं रहा करते हैं।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यों कहिये कि सरागचारित्र नियमसे पाँचवेंसे लेकर दशवें गुण-स्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थानमें नियमसे औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वें गुणस्थानसे लेकर आगे १४वें गुणस्थानके अन्ततक क्षायिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है। आगे मोक्षमें चूँकि आत्मस्वरूपमें कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः वहाँपर चारित्रकी स्थितिको आगममें अस्वीकृत कर दिया गया है।[2] यहाँ पर इतनी विशेषता और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि निश्चयसम्यक्चारित्र, क्षायिकत्व और यथाख्यातत्वकी दृष्टिसे १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें जीवको उपलब्ध हो जाता है। परन्तु यह सब उसका भावात्मकरूप है, द्रव्यात्मक दृष्टिसे अभी उसकी (निश्चयसम्यक्चारित्रकी) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योंकि अभी भी उसके कर्मोंके साथ बद्धता बनीहुई है। साथ ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका पूर्णता और पूर्ण आत्माश्रिताके रूपमें अभी भी अभाव बना रहता है। इसके अलावा नोकर्मनिमित्तक योग भी आत्मामें हुआ करता है। तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे निश्चयसम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूपसे निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अपूर्ण बना रहता है। यद्यपि योगका निरोध हो जानेपर नोकर्म-निमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघातीकर्म अभी भी कार्यरत रहा करते हैं। इन अघाती कर्मोंका प्रभाव १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें ही समाप्त होता है। अतः उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मक-रूपमें पूर्ण स्वावलम्बी बनता है, यही निश्चयसम्यक्चारित्रकी पूर्णता है और इसके होनेपर आत्मा भी तत्काल पूर्ण स्वतन्त्र्यमय मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।[3]

---

१. आगममें सरागसम्यक्त्वको जो व्यवहारसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है उसके साथ प्रकृतका विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर सम्यग्दर्शनके सम्यक्त्व सम्बन्धमें मात्र दर्शनमोहनीयकर्मके उदय-अनुदयकी अपेक्षासे विचार किया गया है।

२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की श्लोकवार्तिकटीका।

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिकटीकामें वार्तिकश्लोक ८७ से ९७ तक व इनका भाष्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर पाँचवें गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका और ११वें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यक्चारित्रका सद्भाव बतला आये हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथमसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णताको ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कसौटी माना जाय, जो कि तत्त्वतः सही है, तो क्षायिकरूप केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कोटिमें आता है। अतः पराश्रयता और अपूर्णताके आधारपर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक होनेके कारण व्यवहार-सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें ही आ जाते हैं। ऐसी स्थितिमें व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी स्थिति चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवें गुणस्थान व उसके आगे ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है।[1] चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचनका सार यह है कि प्रथमसे तृतीय गुणस्थान तक मोक्षमार्गताका सर्वथा अभाव है, कारण कि वहाँ तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अभाव ही रहा करता है। अतः वहाँ पर संसार-की ही कारणता रहा करती है। व्यवहारसम्यग्ज्ञानरूप मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारम्भ हो जाता है और १२वें गुणस्थान तक रहता है व तेरहवें गुणस्थानमें निश्चयसम्यग्ज्ञान हो जाता है और वह आगे भी रहता है। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थानमें उत्पन्न होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है। इसके आगे निश्चयसम्यग्दर्शन ही रहा करता है। परन्तु किसी जीवके निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति चतुर्थ गुण-स्थानमें भी हो जाती है, किसीको पाँचवेंमें, किसीको छठेमें और किसीको सातवेंमें भी होती है। इस तरह निश्चयसम्यग्दर्शनका सद्भाव चौथेसे सातवें तकके गुणस्थान तक भी सम्भव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति पाँचवें गुणस्थानमें होती है। इसका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक रहता है। ११वें गुणस्थानमें व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र ही रहता है तथा इसकी पूर्णता चतुर्दश गुणस्थानके अन्त समयमें होती है। पाँचवें गुणस्थानसे पूर्व व्यवहारसम्यक्चारित्र भी नहीं रहता है।

विषयका उपसंहार करते हुए हमने ऊपर यद्यपि निश्चय और व्यवहाररूप विभाजन मोक्षमार्गको दृष्टिमें रखकर अथवा यों कहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको दृष्टिमें रखकर किया है। परन्तु लेखमें शास्त्रीय दृष्टिसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन सभी अनुयोगोंके आधारसे भी विस्तारसे किया है। साथ ही लौकिक दृष्टिसे भी संक्षिप्त रूपमें किया है। इसलिये इसके सम्बन्धमें विस्तार न करके अब इस बातपर विचार करते हैं कि जब आगममें 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दों का भी सर्वत्र बहुलतासे प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है?

निश्चयनय और व्यवहारनयका अर्थ और प्रयोजन

नयोंको जैनागममें प्रमाणका अंश स्वीकार किया है।[2] जैनागममें यह भी बतलाया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[3] इसके साथ

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ की श्लोकवार्तिकटीकाके वार्तिक-श्लोक ९३, ९४, ९५।

२. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः। स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥

—तत्त्वा०, श्लो० १-६, वा० २९।

३. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।

—प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है, अतः ज्ञानको ही प्रमाण जानना चाहिये।[1] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकारसे प्रमाण होता है और प्रमाणका अंश ही नय होता है। अतः इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्वके अंशको समझनेका साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[2]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागममें पाँच बतलाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[3] इनमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान अखण्डवस्तुका ज्ञान कराते हैं और इनमेंसे भी केवलज्ञान तो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तुका ज्ञान कराते हैं। श्रुतज्ञानकी वस्तुका ज्ञान करानेकी प्रक्रिया इन चारों ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तुका यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवलज्ञानसे वस्तुका ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूपमें होता है और श्रुतज्ञानसे जो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमशः एक-एक अंशके ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूपमें होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तुके एक-एक अंशका क्रमशः पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञानमें नयोंकी व्यवस्थाको अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगममें श्रुतज्ञानमें ही नयोंकी व्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें नयव्यवस्थाका निषेध किया गया है।[4]

उपर्युक्त कथनका अभिप्राय यह है कि वस्तुके एक-एक अंशका पृथक्-पृथक् रूपमें क्रमशः बोध होनेका नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञानको छोड़कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञानमें कैसे संभव है? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति वचनके आधारपर ही हुआ करती है और चूँकि वचन सांश होता है अतः सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेवाला जो श्रुतज्ञानरूपी बोध है उसमें भी सांशताकी सिद्धि हो जाती है। इसप्रकार श्रुतज्ञानमें नय व्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।[5]

वचनमें सांशताकी सिद्धि अनुभवसिद्ध है, कारण कि वाक्योंके समूहरूप महावाक्यमें समाविष्ट जितने वाक्य हों उनका उच्चारण या लेखन क्रमसे ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्यमें जितने पद हों उनका

---

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामुख, १-१।
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। वही, १।२।

२. स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः १-९८।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १-६ वा० ४।

३. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वार्थसूत्र, १।९, २०, ११, १२

४. मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वदृविनिश्चयात्। तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्माणाः प्रमाणवत्॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६, वा० २४, २५, २६, २७।

५. नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।—तत्त्वा० श्लो० १-३३, वा० ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उच्चारण या लेखन क्रमसे होता है और प्रत्येक पदमें जितने अक्षर हों उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमशः होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरोंके समूहका नाम शब्द कहलाता है, और शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[1] पद दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञापद और दूसरा क्रिया-पद। इन दोनोंके योगसे वाक्य बनता है।[2] दो आदि वाक्योंके योगसे महावाक्य बनता है।[3] इसी प्रकार दो आदि महावाक्योंके योगसे भी महावाक्यकी निष्पत्ति होती है।

सबसे बड़ा महावाक्य ग्रन्थ होता है। ग्रन्थके अन्तर्गत अध्याय आदिके रूपमें भी महावाक्य होते हैं। एक-एक अध्याय भी कई-कई महावाक्योंका समुदाय होता है। एक-एक महावाक्यमें दो आदि अनेक वाक्य होते हैं और एक-एक वाक्यमें दो आदि अनेक पद होते हैं। इस प्रकार वचनरूप श्रुतका रूप पदसे लेकर बड़े-से-बड़े महावाक्य तक हो जाता है। जैनागमका सबसे बड़ा महावाक्य द्वादशांग रूप है। इसके १२ अन्तर्भेद हैं। १२वें अन्तर्भेद दृष्टिवादके मुख्य पाँच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये सब भेद वचन-रूप श्रुतके हैं तथा इनके श्रवण या पाठसे जो वस्तुतत्त्वका बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है वह ज्ञान-रूप श्रुत कहलाता है। ज्ञानरूप श्रुत अर्थात् वचनके आधारपर जो बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है उसे आगममें स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वहींपर उस वचनरूप श्रुत या वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान चूँकि ज्ञानरूप ही हुआ करते हैं, अतः अपनी ज्ञानरूपताके कारण ये चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाणरूप ही हुआ करते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरहका होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थरूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण-वचनरूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चारों प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही होते हैं और श्रुतप्रमाण अपनी ज्ञानरूपताके कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपताके कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।[5]

जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाणरूप होता है और जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वके एक देश (अंश)का प्रतिपादन करता

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्—पाणिनीय अष्टाध्यायी १-४-१४।

२. पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वक्यम्।—अष्टशती, अकलंकदेव, आप्तमी० का० १०३।

३. वाक्योच्चयो महावाक्यम्।—साहित्यदर्पण २-१। यहाँपर 'वाक्योच्चयः' पदका विशेषण इसकी टीकामें "योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः" दिया गया है। इस तरह महावाक्यका लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

"परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षः समुदायो महावाक्यम्"।

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डमें श्रुतमार्गणाप्रकरणमें गिनाये गये श्रुतके बीस भेदोंमेंसे आदिके अक्षर, पद और संघात (वाक्य)से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्यके भेद समझना चाहिये।

४. महावाक्योंके योगसे जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चहिये—परस्परसापेक्ष महावाक्योंके निरपेक्ष समुदायका नाम भी महावाक्य है।—(लेखक)।

५. प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः—सर्वार्थसिद्धि १-६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वह नयरूप होता है।[1] इस तरह पद, यदि वाक्यसे सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा, जबकि वह वाक्यसे सम्बद्ध होगा। स्वतन्त्र पद प्रमाणरूप तो होगा ही नहीं, लेकिन अर्थांशके भी प्रतिपादनमें असमर्थ रहनेके कारण वह नयरूप भी नहीं होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतन्त्र हालतमें वक्ता या लेखकके पूर्ण अभिप्रायका प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाणरूप होगा और यदि किसी महावाक्यका अवयव होकर वक्ता या लेखकके अभिप्रायके एकदेशका प्रतिपादन करता है तो वह नयरूप होगा। यही व्यवस्था वाक्योंके समूहरूप महावाक्योंके और महावाक्योंके समूहरूप महावाक्योंमें भी जानना चाहिये। लेख-विस्तारके भयसे यहाँपर इन सब बातोंपर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा रहा है।

जैनागममें नयोंकी व्यवस्था विविध प्रकारसे की गयी है। उनमें एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नामके सात नयोंका है।[2] दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामके दो नयोंका[3] है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नामके दो नयोंका है।[4] नयोंका इन प्रकारोंके अलावा एक प्रकार वह भी है, जिसमें वचनके सभी प्रकारोंका समावेश हो जाता है। इसे हम लोक-संग्राहक नयोंका प्रकार कहना उचित समझते हैं। इस सम्बन्धमें गोम्मटसार कर्मकाण्डकी निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है—

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥

अर्थात् जितने वचन बोलनेके मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

नयोंके इन सब प्रकारोंका विवेचन यहाँ हमें नहीं करना है। प्रकृत प्रसंग तो निश्चयनय और व्यवहारनयका है। अतः इन्हीं दो नयोंपर ही हम यहाँ प्रकाश डाल रहे हैं।

सर्वप्रथम यहाँपर इस बातको समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकारका होता है—एक तो वस्तुतत्त्वको सत्य (यथावस्थित) रूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन और दूसरा वस्तु-तत्त्वको असत्य (जैसा नहीं है वैसा) रूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन। इनमेंसे वस्तुतत्त्वको सत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन सकलादेशी प्रमाणरूप होता है और वस्तुतत्त्वके एकदेशको सत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्त्वको असत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन प्रमाणाभास और नयाभासके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमें प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभासरूप होता है तथा जो वचन वस्तुके एक अंशको संपूर्ण वस्तुरूपमें प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभासरूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके अंशको दूसरे अंशरूपमें प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभासरूप होता है।

---

१. सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।—सर्वार्थसिद्धि १-६।

२. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।—तत्त्वार्थसूत्र १-३३।

३. नयो द्विविधः। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।—सर्वार्थसिद्धि १-६।
(नयः) द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः, तद्विषयो द्रव्यार्थिकः। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः, तद्विषयः पर्यायार्थिकः।—सर्वार्थसिद्धि १-३३।

४. पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।—आलापपद्धति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागममें वस्तुको अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागममें बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु भावरूप और अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्मात्मक है और वे भावरूप तथा अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्म वस्तुमें अपने-अपने विरोधी धर्मके साथ ही रहा करते हैं। प्रत्येक भावरूप धर्म अपने विरोधी अभावरूप धर्मके साथ ही वस्तुमें रह रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमें नित्यरूप धर्म रह रहा है, तो उसका विरोधी अनित्यरूप धर्म भी उसमें रह रहा है। इस विषयको आवश्यकताके अनुसार पूर्वमें स्पष्ट किया गया है। पूर्वमें हम यह भी बतला आये हैं कि प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान परस्पर-विरोधी उन दो धर्मोमेंसे एक धर्म तो निश्चयरूप होता है और एक धर्म व्यवहाररूप होता है। इस आधारपर वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्त्वके निश्चय और व्यवहाररूप दोनों अंशोंका प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणरूप है। जैसे—"वस्तु नित्यानित्य है"। यह वचन वस्तुके निश्चय और व्यवहार दोनों अंशोंका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तुके निश्चयांशका निश्चय-रूपसे प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चयनयरूप है। जैसे—"प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणतिका उपादान कारण होता है"। यह वचन वस्तुमें विद्यमान उपादनकारणतारूप निश्चय धर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिए निश्चयनयरूप है। जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका व्यवहारांश रूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार-नयरूप है। जैसे—"चित् अचित्की परिणतिमें और अचित् चित्की परिणतिमें निमित्तकारण होता है"। वह वचन चित्में अचित्की परिणतिकी और अचित्में चित्की परिणतिको विद्यमान निमित्तकारणतारूप व्यवहारधर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिये व्यवहारनयरूप है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणाभास है, जैसे—"गधेके सींग होते हैं"। यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तुका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास हैं। जो वचन एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे—"संपूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्मकी ही पर्याय है"। यह वचन अचेतनको चेतनरूप प्रतिपादित कर रहा है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तु रूपमें प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है। जैसे—वस्तुको सर्वथा भावात्मक या सर्वथा अभावात्मक मानना अथवा सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक मानना इत्यादि वचन वस्तुके अंशको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये वचन भी प्रमाणाभास हैं। जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तुके अन्य अंशके रूपमें प्रतिपादन करते हैं वे वचन नयाभास होते हैं ऐसा ऊपर कहा गया है। इस आधार पर जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका निश्चयांश-रूपमें प्रतिपादन करनेवाला हो वह निश्चयनयाभास है। जैसे—"चित् ही अचित्रूप परिणत होता है"। अथवा "अचित् ही चित् रूप परिणत होता है" यह वचन निश्चय नयाभास है क्योंकि चित् अचित्की उत्पत्तिमें और अचित् चित्की उत्पत्तिमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारण ही होते हैं, उपादानकारणरूप निश्चयकारण नहीं होते हैं। इस तरह उक्त वाक्योंमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारणको उपादानकारणरूपमें निश्चय-कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, इसलिये वे दोनों वाक्य निश्चयनयाभास है। इसी प्रकार आत्मा और उसके स्वभावभूत चैतन्यका पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके चैतन्यके योगसे आत्माको चित्रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्यमें सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

यहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासके रूपमें जितना विवेचन किया गया है वह सब वचनरूप श्रुतके सम्बन्धमें किया गया है। ज्ञानरूप श्रुतके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी उस रूपमें प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासरूप ही होगा। इसलिये यहाँ पर उसका विवेचन अलगसे नहीं किया जा रहा है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भावरूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तुके अंशोंके प्रतिपादक होते हैं तथा वस्तु और वस्तुके अंश क्रमशः उनके प्रतिपाद्य होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तुके अंशोंके ज्ञापक होते हैं तथा वस्तु और वस्तुके अंश क्रमशः उनके ज्ञाप्य होते हैं। इस प्रकार पूर्वमें जितना चरणानुयोग आदिकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहाररूप अर्थोंका व्याख्यान किया गया है उसमें जितना निश्चयरूप अर्थ है उसका उसी रूपमें प्रतिपादन करने वाला वचनरूप निश्चयनय होता है और उसका उसी रूपमें बोध करने वाला ज्ञानरूप निश्चयनय होता है। इसी प्रकार उसमें जितना व्यवहाररूप अर्थ है उसका उसी रूपमें प्रतिपादन करनेवाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूपमें बोध करानेवाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर ही सर्वत्र हमें वस्तुतत्त्वका निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगममें बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनों ही मोक्षमार्गोंकी वास्तविकताको मानकर नय-प्रक्रियासे इस बातका निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परया कारण होता है, जैसा कि पूर्वमें प्रतिपादित किया गया है। इस तरह मोक्षमार्गकी स्वतंत्र-स्वतंत्र दो भेदरूपताके प्रसंगके भयसे जिनको व्यवहारमोक्षमार्गको अकिंचित्कर माननेका सहारा लेना पड़ता है उन्हें उस सहारेकी फिर आवश्यकता नहीं लेनी पड़ेगी। इसी प्रकार आत्माकी परिणतिको जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारा जाता है, तो नयात्मक दृष्टिकोण रहनेसे इसका अर्थ यही होता है कि आत्माकी उक्त, औदयिकादि परिणतियोंमें कर्मकी उदयादि परिणितियाँ निमित्तकारण हुआ करती हैं। यदि कर्मकी उदयादि परिणतियाँ आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण नहीं होने पर उन्हें आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंमें निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है। इसको व्यवहारनयका कथन किसी भी हालतमें नहीं कहा जा सकता है। इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जबकि कर्मकी उदयादिक परिणतियोंमें आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंकी निमित्तकारणताका सद्भाव माना जायगा और उपादानकारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं, क्योंकि उपादानकारणका कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है, निमित्त-कारणका कार्य तो उपादानको कार्यरूप परिणत होनेमें केवल सहायता देनेका ही रहता है। इसलिये किसीको ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं कि "यदि कार्यमें निमित्तकारणकी निमित्तकारणताको वास्तविक मान लिया जाता है तो निमित्तकारण ही कार्य बन जायेगा।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार' ग्रन्थमें आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करनेके लिये सर्वप्रथम उसके स्वतःसिद्ध ज्ञायकस्वभावका प्रतिपादन किया है। लेकिन जब आत्मा अनादिकालसे अपने उक्त स्वभावमें स्थिर न रहकर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होंने आत्माकी पुद्गलकर्मके साथ बद्धताको भी स्वीकार किया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माके स्वभाव ज्ञायकभावको आचार्य कुन्दकुन्द स्वतःसिद्ध मानते हैं उस प्रकार वे आत्माके विकारको स्वतःसिद्ध नहीं मानते हैं। इस बातको बतलानेके लिये सर्वप्रथम उन्होंने शुद्धनय और व्यवहारनयका आश्रय लिया है। इससे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तुके रूपमें जानना है तो आत्माके स्वतःसिद्धस्वरूपको बतलानेवाले शुद्धनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यों कहिये कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादन करना ही शुद्धनय है। इसी तरह यदि आत्माकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादिकालसे चली आ रही विकारी संसाररूप अवस्थाको समझना है तो इसका ज्ञान शुद्धनयसे तो होगा नहीं, कारण कि वह तो वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका ही ज्ञापक होता है, जबकि आत्माकी विकारी संसाररूप अवस्था उसकी स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझानेके लिये व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके पराश्रितस्वरूपका प्रतिपादक व्यवहारनय है। अथवा यों कहिये कि वस्तुके पराश्रित धर्मका प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है। इसके भी अतिरिक्त यदि आत्माकी संसाररूप विकारी अवस्थाको समाप्त करके उत्पन्न होनेवाली मोक्षरूप अवस्थाको समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्धनयसे नहीं होगा; कारण कि यह अवस्थायी आत्माकी स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझनेके लिये भी वस्तुके पराश्रित धर्मके प्रतिपादक व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि आत्माकी संसार और मोक्ष दोनों ही प्रकारकी अवस्थायें जब क्रमशः कर्मके उदयसे जन्य और कर्मके उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमसे जन्य हैं। यानी आत्माकी संसाररूप अवस्थामें कर्मका उदय कारण है और मोक्षरूप अवस्थामें कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात् और परंपरया कारण है तो क्या कर्मके ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मामें तद्रूप परिणमनकी योग्यता के अभावमें आत्माको संसारी या मुक्त बना सकते हैं? इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्दका कहना है कि वस्तुमें स्वगत योग्यताके अभावमें अन्य कोई भी कारण उसको किसी रूप परिणमन करानेमें असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागममें आत्माकी संसाररूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वतःसिद्ध वैभाविकी शक्तिको तथा आत्माकी मोक्षरूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वतःसिद्ध भव्यत्वशक्तिको भी स्वीकार किया गया है। इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्मका उदय होनेपर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्तिके आधारपर संसारी बना हुआ है और कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्तमें सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्मा अपनी भव्यत्वशक्तिके आधार पर मोक्षरूप अवस्थाको भी प्राप्त कर लेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्माके संसारमें उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्मका उदय ये दोनों कारण हैं तथा आत्माके मोक्षमें उसकी भव्यत्वशक्ति और कर्मका यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण हैं। अब यदि संसारके दोनों कारणोंके विषयमें यह विचार किया जाय कि संसारके दोनों कारणोंमेंसे कौन किस रूपमें कारण होता है और मोक्षके दोनों कारणोंमेंसे कौन किस रूपमें कारण होता है? तो आत्माके संसारमें कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके संसारमें तथा आत्माके मोक्षमें कारणभूत उसकी भव्यत्वशक्ति उसके मोक्षमें उपादानकारण है, कारण कि ये शक्तियाँ ही व्यक्त होकर क्रमशः संसार और मोक्षरूपताको प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार आत्माके संसारमें कारणभूत कर्मका उदय व आत्माके मोक्षमें कारणभूत कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम निमित्त कारण है। कारण कि कर्मका उदय आत्माके संसाररूपसे और कर्मका उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्माके मोक्षरूप से कदापि परिणत नहीं होते, केवल आत्माके उस परिमणनमें सहयोग मात्र दिया करते हैं क्योंकि कर्मके उदयका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी वैभाविकी शक्ति संसाररूप परिणत नहीं हो सकती है और कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी भव्यत्वशक्ति भी मोक्षरूप परिणत नहीं हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनों कारणोंमेंसे उपादानकारणको तो स्वाश्रयताके आधार पर निश्चयकारण कहना योग्य है और निमित्तकारणको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारकारण कहना योग्य है। यह सब विषय पूर्वमें विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। अब यदि इन दोनों ही कारणताओंके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादन करने या बोध करनेकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि उपादानकारणता रूप निश्चयकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर निश्चयनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावके आधारपर निश्चयनयरूप ज्ञानका विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप ज्ञानका विषय होती है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें शुद्धनय और व्यवहारनयके विकल्पोंके समान निश्चयनय और व्यवहारनयके विकल्पोंका भी समावेश किया है।

आगममें निश्चयनयके भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये हैं। इनमेंसे आत्माका विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे शुद्धनिश्चयनयका विषय होता है और आत्माका विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे अशुद्धनिचयनयका विषय होता है। आत्माके इसी स्वरूपको यदि पराश्रितपनेकी दृष्टिसे देखा जाय, तो फिर यह व्यवहारनयका विषय हो जाता है। व्यवहार-नयके भी आगममें दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय। सद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और दूसरा उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकारका है—एक अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार-नय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषयको आलापपद्धतिमें निम्न प्रकार निबद्ध किया गया है—

> "तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः। तत्र निश्चयो द्विविधः—शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्ध-निश्चयो, यथा केवलज्ञानादयो जीवः। सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चयः। यथा मति-ज्ञानादयो जीवः। व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः। तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुप-चरितभेदात्। तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयःउपचरित सद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मति-ज्ञानादयो गुणाः। निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणाः। असद्भूतव्यवहारो द्विविधः-उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्ध-विषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरि-तासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरम्।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है।

इस तरह नयोंके स्वरूपको यथावत् प्रकार समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, कारण कि संपूर्ण वस्तु-तत्त्वको समझनेका साधन अल्पज्ञ प्राणियोंके लिये नय-व्यवस्था ही है।

इस नय-व्यवस्थाको लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकारने दण्ड और चक्रके सहयोगसे मिट्टीसे घड़ा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह संपूर्ण वाक्य वक्ताके संपूर्ण अर्थका यदि निराकांक्षरूपसे बोधक है, तो इसे अपने वर्तमान रूपमें प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोधको प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा। इस वाक्यके संपूर्ण अर्थमें इतने अर्थ गर्भित हैं—

अभेददृष्टिसे मिट्टी और घटमें जो अभेदका बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भावकी दृष्टिसे जो भेदका बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टीकी घटरूप परिणतिरूप उत्पादमें मिट्टीमें जो उपादान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणताका बोध होता है यह भी निश्चयनय है। यहींपर कुम्भकारमें जो निमित्तकारणताका बोध होता है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, कारण कि कुम्भकार मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें साक्षात् निमित्त-कारण है, यहींपर चक्रमें जो निमित्तकारणताका बोध होता है वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें परंपरया अर्थात् कुम्भकारका सहयोगी होकर ही चक्र निमित्तकारण होता है, और यहींपर दण्डमें जो निमित्तकारणताका बोध होता है, वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परंपराओंसे अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्रका सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकारका सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टीका सहयोगी होता है। इस विषयको इस रूपमें भी समझा जा सकता है कि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें मिट्टी उपादानकारण अर्थात् वास्तविक कारण है। यह निश्चयनयका विषय है और यहीं पर कुम्भकार निमित्तकारण होनेसे व्यवहार कारण अर्थात् उपचरितकारण है, यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। यहींपर चक्रमें जो निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय है तथा यहीं दण्डकी निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनयका विषय है।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझमें आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहारनय हो, इसमें भी चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो और इसमें भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हों अथवा चाहे उपचरितोप-चरितअसद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढंगसे सद्भूतताप्राप्त वस्त्वंशोंको ही विषय करते हैं। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निश्चयनयका विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है। इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषयको ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो दोनों ही कथंचित् सद्भूत विषयको ही ग्रहण करते हैं। कोई भी व्यवहारनय न तो सर्वथा असद्भूत विषयको ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषयको ही ग्रहण करता है क्योंकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधेके सींगकी तरह सर्वथा अभावात्मक हो जानेसे वह, नय अथवा प्रमाण किसीका भी विषय नहीं होती है। सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनयका ही विषय होती है, व्यवहारनयका नहीं। अन्तमें इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहारनयका विषय भी अभेद और स्वाश्रयताकी दृष्टिसे निश्चयनयका विषय हो जाता है और निश्चयनयका विषय भी भेद और पराश्रयता-की दृष्टिसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है। जैसा कि पंचाध्यायीमें कहा है—

"इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्"।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य स्याद् वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थात् जो व्यवहारनयका विषय है वहीं संपूर्ण विकल्पोंका अभाव होने पर निश्चयनयका विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि संपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि हैं और वस्तु अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तात्मक है, अतः सभी अविरुद्ध हैं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org